

कठिन हैं रास्ते...

शिक्षा व्यवस्था विभ्रम और कुहासे में नजर आ रही है। कुहासा या विभ्रम इसलिए क्योंकि ऐसा लगता है कि शक्ति का केन्द्र एक साथ दो विपरीत दिशाओं में अपनी ताकत लगा रहा है। निश्चित ही ऐसी स्थिति में यह भ्रम तो पैदा होगा ही कि आखिर इसे समझा कैसे जाए ? शिक्षा के संदर्भ में एक तरफ सरकार की ऐसी चिन्ताएं, निर्णय और घोषणाएं सामने आ रही हैं जिनसे लगता है कि शिक्षा को आमजन के लिए सुलभ कराने के प्रति सरकार प्रतिबद्ध है। सर्व शिक्षा अभियान के दावे, स्कूलों की संख्या में लगातार बढ़ती और नए शिक्षकों की भर्ती आदि इस दिशा में कदम नजर आते हैं। और दूसरी तरफ ऐसे निर्णय और प्रयास सामने आ रहे हैं जो शिक्षा और निजी उद्यम के बीच के फर्क को पाटते दिखाई दे रहे हैं अथवा शिक्षा को निजी मुनाफे का विषय बनाने को वैधानिक स्वीकृति देते नजर आ रहे हैं। आम व्यक्ति के लिए यह विभ्रम तब और बढ़ जाता है जब यह दिखाई देता है कि एक ओर देश की शीर्ष शिक्षा संस्था, सरकारी उपक्रम ही, शिक्षा के इतिहास में अनुपम योगदान देती और मील के पथर कायम करती नजर आती है। इस क्रम में वर्ष 2005 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा पैदा की गई हलचल है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 का आना, उसके अनुरूप किताबों का बनना और इस सब के चलते शिक्षा पर हुए बहस-मुबाहिसे हैं। इन घटनाओं से शिक्षा के प्रति आशावादी रुझान पैदा होता है कि शिक्षा को अब जाकर कहीं एक ठोस जमीन मिल रही है। लेकिन यह भी एक वास्तविकता है कि व्यापक स्कूली व्यवस्था में इस आवाज की कोई अनुगूंज तक नहीं सुनाई पड़ती। तब सवाल उठता है कि इन विरोधाभासी स्थितियों की व्याख्या कैसे की जाए ? शिक्षा की दिशा को कैसे समझा जाए कि आखिर शिक्षा किस दिशा में जा रही है ? क्या इन घटनाओं के एक साथ होने को महज संयोग मान लिया जाए ?

90 के दशक से चली उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों का शिक्षा पर क्या असर पड़ेगा, यह बुद्धिजीवियों के लिए बहस का विषय रहा है। निश्चित ही बहस दो धड़ों में चलने वाली थी। एक धड़ा समाज की स्थिति, शिक्षा और समाज के संबंध, सभी बच्चों की शिक्षा के लिए संवैधानिक प्रावधानों और शिक्षायी आदर्शों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के सार्वजनिककरण और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की उपलब्धता के लिए राजकीय प्रयासों को केन्द्र में रखकर बात कर रहा था। दूसरा धड़ा अनुभव आधारित मजबूत तर्क दे रहा था, और अभी भी दे रहा है कि, सरकारी शिक्षा व्यवस्था नाकामयाब हो चुकी है और इसमें जितने संसाधन लगाए जा रहे हैं उनकी बनिस्पत परिणाम न के बराबर आ रहे हैं। यह अनुभव आधारित और सहज ही दिखने वाला प्रमाण है, जिस पर यकीन करना हमारी मजबूरी है। शायद ही कोई व्यक्ति, जिसे शिक्षा जगत का थोड़ा बहुत भी अनुभव है, इसे नकारेगा। सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत का फायदा उठाते हुए निजीकरण के पैरोकारों के लिए यह सबसे उचित समय था कि वे इस 'यथार्थ' से शिक्षा के निजीकरण का वैकल्पिक रास्ता सुझाएं और शिक्षा के निजीकरण के लिए ठोस आधार भूमि तैयार करें। इसके लिए उन्होंने ऐसे तर्क जुटाए जिनसे सरकारी व्यवस्था को मृत घोषित किया जा सके। इतनी बड़ी सरकारी व्यवस्था को मृत घोषित किए बिना उनके लिए यह संभव नहीं था कि वे निजीकरण के विकल्प को कायम कर पाएं। इसके लिए उन्होंने शिक्षकों की अनुपस्थिति और जवाबदेही के अभाव, बच्चों के सीखने के असंतोषजनक उपलब्धि स्तर और इस व्यवस्था पर हो रहे भारी-भरकम खर्च को आधार बनाया। यह सही है कि हमारी राजकीय शिक्षा व्यवस्था तमाम कमजोरियों और तनावों से जूझ रही है लेकिन कमजोरियों और तनावों से बाहर निकलने का यह तर्क बिल्कुल वैसा ही है जैसे कि आपके घर में कोक्रोच और चूहे आने लगे हैं इसलिए आप वह घर छोड़ ही दें। क्या शिक्षा का निजीकरण भारत जैसे देश में, जहां अभी तक भी सभी बच्चों को शिक्षा से जोड़ने के लिए सरकार को लोहे के चने चबाने पड़ रहे हैं और जहां अभी भी बड़ी संख्या में बच्चे पांचवीं और आठवीं तक पहुंचते-पहुंचते ड्रॉप आउट हो रहे हैं; यह माकूल विकल्प हो सकता है ? (हालांकि इस बहस के चलते निजीकरण के लिए आम जनता में एक स्वीकार भाव तो पैदा हुआ ही है।) लेकिन शिक्षा में यह बहस सिर्फ इतनी ही नहीं है। यह इससे कहीं गहरा वैचारिक मामला है। निजीकरण की सर्वग्रासी प्रक्रिया समाज को महज उपभोक्ता के तौर पर देखती है, आदर्श और मूल्य रहित उपभोक्ता। उपभोग का यह नजरिया उनके लिए बुनियादी जरूरतों को पूरा करने से नहीं उपजकर मुनाफे से उपज रहा है। हर चीज उनके लिए उपभोग की वस्तु

है और इसलिए शिक्षा भी उपभोग और मुनाफे के लिए है। यह मानते हुए उनके सामने यह भी चुनौती है कि कैसे व्यक्ति की ऐसी मनःस्थिति तैयार की जाए कि व्यक्ति अपने आपको इससे (उपभोक्ता से) ज्यादा महसूस नहीं करे। यदि वे ऐसी मनःस्थिति बनाने में सफल हो जाते हैं तो इससे उनकी जीत सुनिश्चित हो जाती है क्योंकि जिन परिस्थितियों में व्यक्ति रहता है उनके प्रति उसकी महसूसियत और विचार को खत्म कर देने के बाद बचता ही क्या है। बाजार व्यक्ति की महसूसियत और विचार को खत्म करने का काम कर रहा है। जब तक व्यक्ति अपने अनुभवों पर सोचता रहेगा तब तक यह गुंजाइश बनी रहगी है कि वह परिवर्तन के लिए भी तैयार हो जाए। क्योंकि अपनी स्थितियों के प्रति महसूसियत और विचार ही सामाजिक परिवर्तन की जड़ होते हैं। इसके लिए जरूरी है कि बच्चों को एक ऐसी व्यवस्था दी जाए जहां महसूसियत और विचार के लिए कोई गुंजाइश न हो। यह व्यवस्था कैसे कायम होगी ? इसका एक तरीका है कि शिक्षा के अर्थों को सीमित किया जाए, सीखने को पढ़ना-लिखना आने तक सीमित किया जाए, बेरोजगारी के कारण उपलब्ध मानवीय संसाधन का तर्क देकर ऐसे शिक्षक भर्ती किए जाएं जो सिर्फ पढ़ना-लिखना सिखाने के 'उस्ताद' हों, शिक्षा के मानकों के निर्धारण के लिए किसी भी प्रकार की व्यवस्था न हो और सभी को 'अपने हिसाब' से काम करने की आजादी हो।

निजीकरण के पैरोकार यह भी जानते हैं कि बच्चे तो शिक्षित पैदा नहीं होंगे। अतः यह उनके लिए मोटे मुनाफे का मामला है। अब अपने 'उद्योग' को वे कैसे आगे बढ़ाएं ? इसकी पहली शर्त है कि सार्वजनिक व्यवस्थाओं को ध्वस्त किया जाए या उनकी ऐसी छवि बनाई जाए कि जनता की नजर में ध्वस्त हो जाए। इससे उनके लिए शिक्षा का बाजार भी खुलेगा और धीरे-धीरे जनता का प्रतिरोध भी कम होगा। इसीलिए सार्वजनिक व्यवस्थाओं को सरेआम ऐसे नंगा किया जा रहा है जैसे ऐसा होना इनकी नियति ही है और वे इससे बेहतर हो ही नहीं सकतीं। साथ ही उनके लिए यह भी जरूरी है कि चाहे प्रक्रिया धीमी हो लेकिन वे अपने लिए ऐसी जगह बनाएं कि नीचे जमीन ठोस हो। यह सब वे सरकार के सहयोग के बिना नहीं कर सकते।

इसके लिए नए-नए नामों और उपनामों से ऐसे विचारों को दिमाग में भरा जा रहा है कि आप नाम सुनकर ही मानने लगें कि शायद समस्या से निजात पाने का यह कोई नायाब तरीका है। निजीकरण के पक्षकार और सरकार 'पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप' का मंत्रजाप कुछ इसी तरह कर रहे हैं। सरकार शायद सोच रही है कि संभवतः इसी से उसकी नाकामयाबी का धब्बा मिट जाए। अपनी नाकामयाबियों के कारण वह स्वयं के अन्दर नहीं खोजकर बाहर खोजना चाहती है। इसी राह पर 'पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप' जैसे जुमलों को भी उछाल रही है। ये जुमले ऊपर से तो भोले दिखते हैं लेकिन अपने अंदर ही कई प्रकार के भ्रम और अन्तर्विरोधों को समेटे हुए होते हैं। इन भ्रमों को समझने की जरूरत है। पहला भ्रम, जिसकी सरकार पुरजोर घोषणा करती दिखाई देती है कि वह स्थितियों को सुधारना चाहती है। दूसरा, निजी संस्थान या एजेन्सीज समाज के हित में काम करना चाहती हैं। तीसरा, निजी संस्थान या एजेन्सीज शिक्षा की बेहतर समझ रखती हैं। चौथा, शिक्षा को सुधारने का तरीका प्रबंधन के रास्ते से जाता है। और पांचवां, सरकार के पास संसाधनों की कमी है और संसाधन जुटाने के लिए यदि निजी संस्थानों या घरानों से मदद ली जा सकती है तो लेनी चाहिए।

यह जरूरी है कि इन भ्रमों की धुंध को हटाकर देखा जाए। यदि सरकार सही मायने में शिक्षा व्यवस्था को सुधारना चाहती है तो इसके लिए उससे मुफीद और कोई हो नहीं सकता। सभी अधिकारी और शिक्षक उसकी सेवाशर्तों में बंधे हुए हैं। वह चाहे तो क्यों उनसे काम नहीं करवा सकती ? लेकिन किसी व्यवस्था में काम तभी होता है जब काम की एक ऐसी संस्कृति निर्मित की जाए जहां ऊपर से, शीर्ष पर बैठे लोगों से यह संकेत मिलें कि वे काम के प्रति प्रतिबद्ध हैं और सही मायने में काम करना और करवाना चाहते हैं। ऐसा संप्रेषित नहीं होने या इसके उलट व्यवहार में काम होना या करवा पाना संभव नहीं है (यह बात किसी एक अधिकारी या विभाग के संदर्भ में नहीं है। यह समग्रता में दिखने वाला प्रभाव है और इसीलिए यह मुश्किल भी है।)। यदि सरकार सही मायने में शिक्षा व्यवस्था को सुधारना चाहती है तो उसे इसके लिए अपनी राजनैतिक प्रतिबद्धता भी दर्शानी चाहिए। लेकिन सरकार अपनी राजनैतिक प्रतिबद्धता को मजबूती से दर्शाने की बजाए अपना पल्ला झाड़ते हुए नजर आ रही है। अपने आंतरिक खोखलेपन को ढकने के लिए वह ऐसे प्रयास कर रही है जिससे उसके काम करते रहने का भ्रम बना रहे।

दूसरा भ्रम कहीं ज्यादा भोलेपन से हमारे सामने आता है। निजी संस्थानों को क्या जरूरत पड़ी है कि वे अपने मुनाफे के रास्ते को छोड़कर समाजहित में काम करने लगें। यदि वे ऐसा ही करना चाहते हैं तो अपने स्कूल खोलें और गरीब आबादी की मुफ्त शिक्षा के लिए सीटें रिजर्व करें और उसी गुणवत्ता की शिक्षा उपलब्ध करवाएं जो कि वे पैसा लेकर करवाते हैं (हालांकि उनकी शिक्षा की गुणवत्ता की समझ भी परखने लायक है।)। लेकिन उनकी दूरगामी सोच में यह रास्ता काम का नहीं है। वे वह तरीका अख्तियार करते हैं जिसमें उनके दूरगामी

फायदे हों। उनका दूरगामी फायदा निजीकरण में है। उनकी समाजहित में काम करने की भावना को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। गांव में आमतौर पर सेठ या साहूकार मोटे ब्याज पर गरीबों को कर्ज देते हैं और कर्ज की वसूली में अमानवीय से अमानवीय तरीकों को अपनाने से नहीं चूकते। और 10-20 साल में एक कुआ, बाबड़ी या धर्मशाला बनवाकर अपना दूसरा चेहरा, भला या भ्रामक चेहरा, समाज के सामने रखने का प्रयास करते हैं। कहीं यह ऐसा ही प्रयास तो नहीं है ?

इन्हीं भ्रमों की अगली कड़ी में यह भी सामने आता है कि निजी संस्थान या एजेन्सीज शिक्षा की बेहतर समझ रखती हैं। इस बात की परख इस बात से हो सकती है कि वे शिक्षा को कैसे समझते हैं ? बच्चे को कैसे समझते हैं ? बेहतर शिक्षा के उनके मानदण्ड क्या हैं और शिक्षकों की छवि और सेवा शर्तों के मानदण्ड क्या हैं ? इन विषयों पर वे सैद्धान्तिक विचार-विमर्श नहीं करना चाहते। वे शिक्षा की उसी लोकप्रिय समझ से काम चलाना चाहते हैं जिनसे उनके उद्देश्य पूरे हो जाएं। उन पर इस बात का फर्क नहीं पड़ता कि शिक्षा के उद्देश्य क्या हों या शिक्षक कितना पढ़ा हो, कैसा हो। उनका अंतिम मानदण्ड होता है कि शिक्षक को दो-दोई हजार रुपये महीने ही देने हैं। और तर्क वही कि जब बाजार में कम पैसे पर मजदूर मिल रहा है तो वे अधिक पैसे क्यों दें। शायद यह बात उनके इस अगले भ्रम से जुड़ती है कि बेहतर शिक्षा का रास्ता प्रबंधन से निकलता है। शायद उन्हें यह भ्रम है कि यदि कुछ चौकीदार बिठा दिए जाएं तो लोग काम कर लेंगे। गोया यह सड़क पर मजदूरी का काम हो। लेकिन शिक्षा सिर्फ प्रबंधन का विषय ही तो नहीं है। यह होटल मनेजमेंट, नेचुरल रिसोर्स मनेजमेंट या बिजनेस मनेजमेंट जैसा विषय तो नहीं है। यह सही है कि सही मायने में शिक्षा कुछ आदर्शों को अपने सम्मुख रखती है और उन आदर्शों तक पहुंचना आसान नहीं है। लेकिन यही आदर्श यह भी बताते हैं कि कम से कम इन्हें प्रबंधन के रास्ते से तो प्राप्त नहीं ही किया जा सकता। जहां सतत मानवीय चिन्तन और कर्म से चीजें बनती हैं, क्या मनेजमेंट की कोई भी विधा इसे सिखा सकती है ? आंकड़ों के खेल में तो यह संभव है कि यह बता दिया जाए कि कितने बच्चे आए और कितने गए। लेकिन जो काम आज किया, उससे बच्चे क्या सीखे, और बेहतर सिखाने के लिए क्या करें, ये क्षमताएं तथा बेहतर करने के लिए लगातार परामर्श आदि प्रबंधन से कैसे आएंगे ? इसके लिए ऐसी व्यवस्था का होना जरूरी है जो इन विषयों पर काम करते हुए बेहतरी के लिए लगातार काम करे और इसके लिए शिक्षक का चिन्तनशील होना भी जरूरी है। लेकिन वे ऐसी व्यवस्थाएं भी नहीं करना चाहते। उनके लिए नए भर्ती किए शिक्षकों के लिए 6 दिवसीय प्रशिक्षण पैकेज है जिससे वे शिक्षा की समग्र दृष्टि विकसित कर देंगे और सभी चुनौतियों पर फतह पा लेंगे। शिक्षा में काम करने वाला कोई भी व्यक्ति यदि ऐसे विचारों की गिरफ्त में आता है तो यह अपने आप में आश्चर्य का विषय है। अंतिम भ्रम, संसाधनों की कमी का है। सरकार के पास यदि संसाधनों की कमी है तो शेष विकास कार्यों पर खर्च हो रहा अंधाधुंध पैसा कहां से आ रहा है और उसी रास्ते से शिक्षा के लिए क्यों नहीं आ सकता ? हर वर्ष सर्व शिक्षा अभियान या अन्य कार्यक्रमों के बारे में यही खबर होती है कि पैसा खर्च नहीं हो रहा है और ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में तो शिक्षा के बजट को बढ़ाने की बात की गई है।

हमें लगता है कि यह सूरते हाल किन्हीं मजबूरियों के चलते नहीं है। यह सोची-समझी रणनीति के तहत हो रहा है कि कैसे व्यवस्थाओं को निजीकरण के रास्ते पर ले जाया जाए और कैसे सरकार अपने दायित्वों से मुक्ति पाए। यह सब बाजार की ताकतों के चलते हो रहा है। यह प्रक्रिया धीमी जरूर होगी लेकिन इन 'शिक्षा उद्यमियों' के लिए दूरगामी और मजबूत होगी। इस विचार ने काम करना शुरू कर दिया है और इसके उदाहरण मिलने लगे हैं। जमीन पर इसे अमली जामा पहनाया जा रहा है। निजी उद्यमियों के ऐसे फाउन्डेशन सामने आ रहे हैं जो शिक्षा में 'इन्वेस्ट' करना चाहते हैं। सरकार और इन फाउन्डेशन के बीच समझौते हो रहे हैं। प्रयोग के तौर पर करके देखने का सिलसिला शुरू हो गया है। इस प्रयोग का सिलसिला राजस्थान के सौ स्कूलों और कई अन्य राज्यों में भी शुरू हो चुका है। जिन संस्थानों ने 'शिक्षा को सुधारने' की मुहिम की शुरुआत की है उनका शिक्षा में कोई अनुभव नहीं है और वे निजी उद्यमी हैं। यह निजीकरण के विचार का वह क्रूर यथार्थ है जो धीरे-धीरे वंचितों को और वंचित बनाएगा और शिक्षा को एक व्यवसाय में तब्दील करेगा। जब सब तरफ ऐसी ही बयार चल रही है तो इससे बाहर निकलने की युक्तियां बनाना भी कठिन है। यह उन सभी बुद्धिजीवियों और शिक्षाकर्मियों के सम्मुख चुनौती पेश कर रहा है जो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के सार्वजनीनकरण के लिए प्रयासरत हैं। लेकिन यह तय है कि सरकार और निजी उद्यमियों की यह सांठगांठ भविष्य में शिक्षा के कठिन रास्ते को और कठिन बनाएगी। ♦

दिलीप